पाठ्य-पुस्तकों की राजनीति

❑ ऋतुबाला

सरकारी शिक्षा तंत्र में प्रयुक्त पाठ्यपुस्तकों की अन्तर्वस्तु, चित्रण और प्रस्तुतीकरण को लेकर शिक्षाविद् और शोधकर्ता असंतोष व्यक्त करते रहे हैं । 'शिक्षा-विमर्श' में हम पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा और विषयवस्तु का विश्लेषण प्रकाशित करते रहे हैं । प्रस्तुत अध्ययन रपट में बिहार, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली की छठी से आठवीं तक की हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित-चित्रित अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों की स्थिति का आकलन किया गया है। यह आकलन पाठ्यपुस्तकों के पार्श्व की राजनीति को संकेतित करता है।

स्वाधीनता संग्राम के दरम्यान आजाद भारत के लिए जो सपने देखे गये उनमें से एक प्रमुख सपना था - समता एवं सामाजिक न्याय के इर्द-गिर्द समाज की पुनर्रचना का। दूसरे शब्दों में एक ऐसा समाज जो हर तरह के शोषण और गैर-बराबरी से मुक्त हो अर्थात समतामूलक समाज । इस काम में शिक्षा की भूमिका अपेक्षित मानी गयी । इसके लिए आवश्यक यह था कि सभी के लिए, खासकर समाज के हाशिये पर खड़े दलितों, वंचितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों इत्यादि के लिए न केवल शिक्षा के अवसर एवं सफलता सुनिश्चित की जाए बल्कि ऐसी शिक्षा दी जाए जो समाज में फैले भेदभाव, गैरबराबरी को खत्म करने की दिशा में एक मानस का निर्माण करे । एक ऐसी शिक्षा जो वंचितों की समाज में अपनी स्थिति को रेखांकित करने में सहायक हो, इस स्थिति के कारणों और प्रक्रियाओं को पहचान कर उसमें बदलाव के लिए सामाजिक हस्तक्षेप हेतु उनको तैयार करने में मददगार हो ।

चूंकि ज्ञान और संस्कृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचारित करने वाले औपचारिक स्कूलों के पास आज भी इस कार्य को करने का मुख्य और सबसे ताकतवर जरिया पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकें ही हैं । दूसरे शब्दों में पाठ्यपुस्तकें आज भी निर्विवाद रूप से हमारी औपचारिक स्कूली शिक्षा की धुरी हैं । अत: आज शिक्षा से सामाजिक-न्याय, समानता एवं सामाजिक गतिशीलता की जो अपेक्षाएं, आकाक्षाएं की जा रही हैं उसकी जवाबदेही पाठ्यपुस्तकों के कंधों पर ही है । परन्तु यह शिक्षा का दुर्भाग्य ही है कि स्वाधीनता के अर्धशती से भी ऊपर गुजर जाने के बावजूद हमारी पाठ्यपुस्तकों का सामाजिक चरित्र विषमतामूलक और भेदभावपूर्ण बना हुआ है। हमारी स्कूली पाठ्यपुस्तकें न तो संख्यात्मक रूप से और न ही गुणात्मक रूप से समाज के दलितों और उपेक्षितों का प्रतिनिधित्व करती हैं । पाठ्यपुस्तकें इनकी सभ्यता और संस्कृति, इनके संघर्ष दुनिया को देखने-समझने तथा उसमें व्यवहार करने के इनके तौर-तरीके, इनके विरोध, राष्ट्र की अभी तक की सभ्यता, संस्कृति तथा इतिहास निर्माण में इनके योगदानों को नहीं के बराबर जगह देती हैं।

विषमता के आधार पर जाति, समुदाय एवं वर्गों में बंटे भारतीय समाज में अगर कोई ज्ञान व सत्ता के उपादान, संचालन तथा नियंत्रण का सामाजिक वितरण पढ़ना चाहे तो हमारी स्कूली पाठ्यपुस्तकें उसके लिए एक समृद्ध तथा एक हद तक विश्वसनीय सामग्री प्रदान कर सकती हैं। बिहार, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली इन चार राज्यों की कक्षा छ: से आठ में चलने वाली हिन्दी की सोलह पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन यह बतलाता है कि कुल मिलाकर 2268 पृष्ठों में अनुसूचित जाति/जनजाति की हिस्सेदारी 71 पृष्ठों की है । प्रतिशत के हिसाब से 3.13% । इन सोलह पाठ्यपुस्तकों में पाठ आधारित प्रश्नों की संख्या 2186 है जबकि अनुसूचित जाति/जनजाति दोनों से संबंधित कुल प्रश्नों की संख्या 45 है यानी 2.05% । कुल चित्र 385 हैं जिनमें अनुसूचित जाति से संबंधित चित्र सात और अनुसूचित जनजाति से संबंधित चित्र पांच है । प्रतिशत के हिसाब से क्रमश: 1.8 एवं 1.3%। दोनों को मिलाकर चित्रों की हिस्सेदारी 3.11% बनती है । इन पाठ्यपुस्तकों में अनुसूचित जाति की पृष्ठभूमि के मुख्य पात्रों की संख्या पांच और गौण पात्रों की संख्या तीन है । अनसूचित जनजाति का एक भी मुख्य पात्र नहीं है । पृष्ठों, प्रश्नों, चित्रों और पात्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन पाठ्यपुस्तकों में अनुसूचित जाति एंव अनुसूचित जनजाति की हिस्सेदारी नगण्य है । अब देखने लायक मुद्दा यह है कि नगण्य रूप से इनकी जो चर्चा पाठ्यपुस्तकों में की भी गई है वो किस रूप में की गयी है। यानी इनका

और वर्णन इनके संबंध में किस तरह की छवि परोसने वाला है । अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के संबंधित अंशों, प्रसंगों व पाठों को पढ़ते वक्त इस समुदाय के प्रति पाठ्यपुस्तकों के कैसे रवैय्ये से छात्रों को रू-ब-रू होना पड़ता है ।

सबसे पहले हम अनुसूचित जाति से संबंधित चित्रों के विश्लेषण पर चलते हैं । इन राज्यों की पाठ्यपुस्तकों में अनुसूचित जाति से संबंधित दिए गए कुल चित्रों में चूंकि सर्वाधिक चित्र अम्बेडकर (अनुसूचित जाति से संबंधित कुल सात चित्रों में अंबेडकर के तीन चित्र हैं) के हैं । साथ ही साथ इन्हें चूंकि दलितों के नायक के रूप में सम्मान प्राप्त है । स्वतंत्रता संग्राम के दौरान व उसके बाद भी दलितों को मुख्यधारा में लाने के लिए इन्होंने संघर्ष किया । इसलिए इन दोनों ही लिहाज से यह देखना प्रासंगिक होगा कि इस दलित पात्र से संबंधित चित्रों में इनकी किस प्रकार की छवि उभरती है ? ये चित्र विषमता के आधार पर जाति विभाजित समाज के परिप्रेक्ष्य में अंबेडकर के योगदान व संघर्षों को समझने-समझाने में कितनी और किस रूप में संभावना रखते हैं ?

आज शिक्षा से सामाजिक-न्याय, समानता एवं सामाजिक गतिशीलता की जो अपेक्षाएं, आकाक्षाएं की जा रही हैं उसकी जवाबदेही पाठ्यपुस्तकों के कंधों पर ही है । परन्तु यह शिक्षा का दुर्भाग्य ही है कि स्वाधीनता के अर्धशती से भी ऊपर गुजर जाने के बावजूद हमारी पाठ्यपुस्तकों का सामाजिक चरित्र विषमतामूलक और भेदभावपूर्ण बना हुआ है।

इन राज्यों की सोलह हिन्दी की पुस्तकों में अम्बेडकर के कुल तीन चित्र हैं जिनमें इन्हें एक वकील की पोशाक में दिखाया गया है । कोई बिम्ब, चिन्ह, प्रतीक व वाक्यांश ऐसा नहीं है जो यह बतला सके कि ये अनुसूचित जाति से संबंधित हैं । सोचने लायक मुद्दा यह है कि अलग-अलग राज्यों की किताबों में अम्बेडकर पर अलग-अलग पाठ तो हैं पर चित्र एक जैसे हैं - चश्मा, कोट पतलून, टाई पहने सूटधारी । जबकि इनसे संबंधित पाठों में अम्बेडकर को विधिवेत्ता, समाज सुधारक, दलितों का जुझारू नेता, निम्न समझी जाने वाली जाति, समुदाय के लोगों के उत्थान के लिए अपनी आहुति देने वाले इत्यादि अनेक रूपों में दिखलाया गया है। पर अम्बेडकर से संबंधित ये तीनों चित्र दलितों के जुझारू नेता के रूप में उनके संघर्षों को कहीं से भी उजागर करने वाले नहीं है । ये न तो उनके द्वारा झेले गए जातिगत विद्वेष, ना ही इसके विरुद्ध लड़ी गई उनकी लड़ाई को दर्शाते हैं । अम्बेडकर के चित्रों में इस बात की कहीं कोई छाया या चिन्ह नहीं है जो यह बतलाती हो कि उनका जन्म एक अछूत परिवार में हुआ था जिसकी वजह से पता नहीं कितनी जातिगत घृणा की ताप उन्हें सहनी पड़ी ? कितना संघर्ष करना पड़ा ? साथ में यह भी कि उन्होंने इसके खिलाफ जीवन पर्यन्त लड़ाई लड़ी । और इस लड़ाई को एक मुकाम तक पहुंचाया। इन बातों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि डा. अम्बेडकर के ये चित्र उनके जीवन के तमाम उद्देश्यों और संघर्षों को गौण बनाते हैं । ऐसा नहीं है कि इन पुस्तकों में दिए सभी नायकों के चित्र इतने ही बेमानी ठस और पाठ के संदेश को वहन नहीं करने वाले हैं ।

एक जगह पर क्रांतिकारी बालक चन्द्रशेखर की बहादुरी को दिखाने वाला चित्र है । इसमें चन्द्रशेखर अपने हाथ में माचिस की सारी तीलीयों को एक साथ जलाए हुए हैं । इससे चारों ओर प्रकाश फैला हुआ है । ऐसा करते हुए चन्द्रशेखर एकदम प्रसन्न मुद्रा में खड़े हैं जबकि उनके अन्य मित्र भयभीत मुद्रा में खड़े हैं । संबंधित प्रसंग यह है कि उनके मन में यह उत्कण्ठा हुई कि जब सलाई कि एक तीली इतना प्रकाश दे सकती है तो सभी तीलीयां एक साथ कितना प्रकाश देगीं । डर के मारे उनके साथियों में ऐसा करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ पर चन्द्रशेखर ने बेखौफ होकर ऐसा किया। इसमें उनका हाथ भी जल गया पर उन्होंने उफ तक नहीं किया । नाट बाबर के साथ सशस्त्र संघर्ष करते हुए चन्द्रशेखर की दूसरी तस्वीर भी मिलती है । एक अन्य पुस्तक में गांधी जी को दाण्डी मार्च करते हुए दिखलाया गया है ।

अम्बेडकर के जीवन में ऐसी घटनाएं बिखरी पड़ी हैं जो उनके विलक्षण पक्ष का संदेश देती हैं या फिर उनके जुझारू व्यक्तित्व को उजागर करती हैं । ऐसे कुछ अंश पाठ्यपुस्तक में भी दिए गये हैं । मसलन बालक अम्बेडकर द्वारा जाति बताने पर उन्हें बैलगाड़ी से धकेला जाना, विद्यालय जाते समय एक महिला द्वारा उन्हें बरसाती कीचड़ में धकेला जाना, जगह की कमी के कारण परिवार के सो जाने के बाद एक कोने में गहरी रात में पढ़ना । संगठित भीड़ के साथ कुआं से पानी भरना या फिर मंदिर में प्रवेश करना। लंदन के गोलमेल सम्मेलन में अछूतों की समस्या उठाना, बौद्ध धर्म की दीक्षा लेना इत्यादि । पाठ में इतने सारे प्रसंगों के होते हुए भी अम्बेडकर का चित्र इनमें से किसी भी एक प्रसंग को दर्शाने वाला नहीं है । तब क्या अम्बेडकर के ये तीनों चित्र उनके चेहरे से परिचित करवाने के लिए दिए गए हैं । संभवत: यह कहा जा सकता है कि उनके अन्य चित्र उपलब्ध नहीं है । लेकिन यह कहने मात्र से शिक्षा की जिम्मेवारी पूरी नहीं हो जाती । जिस तरह चन्द्रशेखर आजाद के दोनों चित्र और गांधीजी का दाण्डी मार्च वाला चित्र रेखाचित्र हैं उसी प्रकार पाठ में भीमराव के जीवन से जुडी घटनाओं

के काल्पनिक रूप से रेखाचित्र क्या नहीं बनाए जा सकते थे । हालांकि अन्य कई जगहों पर भी महापुरुषों के केवल चेहरों के ही चित्र दिए गए हैं लेकिन इसे दलित नेता के संघर्ष व उनके संदेश को समाज तक पहुंचने की संवेदनशील जिम्मेवारी से बच निकलने के लिए ढाल के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता ।

दिल्ली राज्य की कक्षा-8 की पुस्तक के 'विजय-बेला' नामक पाठ में दो चित्र अनुसूचित जाति के पात्रों के दिए गए हैं । इस पाठ में 14 पृष्ठों में से 7 पृष्ठ अनु. जाति के पात्रों से संबंधित हैं । पाठ में 3 मल्लाह पात्र हैं जो नाव चलाते हैं एक सरदार, दूसरा भीमा, तीसरा कैकू । इन पात्रों की सहायता से राजा फिरंगियों की आँखों में धूल झोंक कर नदी पार करता है। भीमा नदी में कूद कर तैरते हुए जाता है और राजा (यह राजा 1957 की क्रॉन्ति के सेनानी बिहार में जगदीशपुर के महाराजा कुंवर सिंह हैं) को फिरंगियों की गोलियों से बचाता हुआ जल्दी से नाव खेते हुए किनारे पर लाता है। संक्षेप में यही दिया गया है। जबकि पहले चित्र में दो मल्लाहों को बातचीत करते दिखाया है । जिनके थोड़ी दूर पर पानी में एक नाव जाती दिखाई है और किनारे पर एक झोंपड़ी दिखाई है। यह चित्र गैर-जरूरी सा प्रतीत होता है। इस चित्र के दिए जाने का कोई महत्व नहीं नजर आता । इस चित्र की कोई सार्थकता पाठ के अनुसार नजर नहीं आती ।

दूसरे चित्र में जख्मी राजा कुंवर सिंह को अपने एक सिपाही के सहारे जमीन पर बैठे दिखाया है, साथ एक अश्वारोही खड़ा है और मल्लाहों का सरदार और भीमा खडे हैं । इस तरह के चित्र बच्चों के मन मस्तिष्क पर कोई खास असर नहीं छोड़ते । पाठ में जो मल्लाहों की ईमानदारी, साहस, देशभक्ति, अक्लमंदी और बहादुरी दिखाई गई है उसे चित्र में न देकर इस तरह के चित्र देने का कोई औचित्य नहीं है जिनमें उन मल्लाहों को केवल बातचीत करते और खड़े दिखाया है । चित्र पाठ की बात बच्चों को अधिक पुख्ता ढंग से समझाने और उनके मनोरंजन के लिए होते हैं। जबकि ये दोनों चित्र न तो किसी खास प्रसंग को ठोस रूप से समझाने में सहायक हैं और न ही मनोरंजनदायक हैं । इन चित्रों के स्थान पर भीमा मल्लाह द्वारा राजा को फिरंगियों की गोलियों से बचाते हुए नदी किनारे लाने का चित्र देना ज्यादा प्रासंगिक होता । इसके अलावा इन पाठ्यपुस्तकों में अनुसूचित जाति से संबंधित दो सपाट चित्र संत तिरुववल्वुर के हैं । संत की मुद्रा में ये चित्र कहीं से यह नहीं बतलाते कि इनका पालन-पोषण एक जुलाहे दम्पत्ति ने किया था । या इनके संत बनने के पीछे इनके लालन-पालन कर्ता का कोई संस्कार काम कर रहा था या इनके महान व्यक्तित्व (संत के रूप में) में उनका कोई योगदान भी था, पर ऐसा नहीं किया गया। इससे यह साफ पता चलता है कि पाठ में जहां कहीं भी अनुसूचित जाति के संबंध में सकारात्मक छवि बनाने वाले थोड़े से प्रसंग हैं उनको भी चित्र नजरअंदाज करके चलते हैं ।

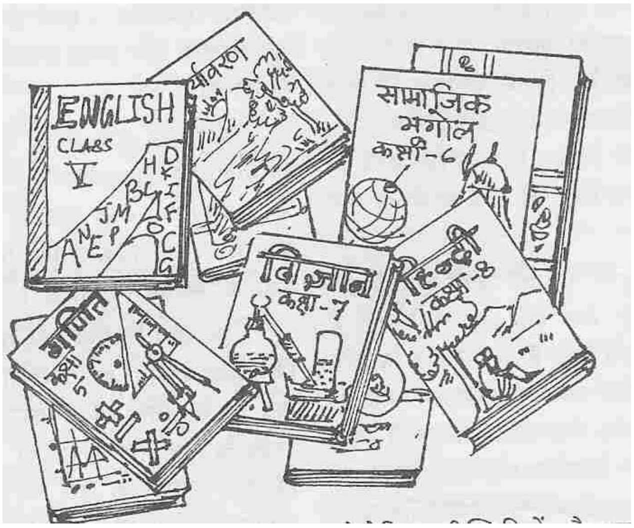
'विजय वेला' (दिल्ली राज्य कक्षा आठ की पाठ्यपुस्तक) पाठ में बताया गया है कि कितनी बहादुरी से अपनी जान की परवाह न करते हुए मल्लाहों ने 1857 की क्रांति में किस तरह मल्लाहों के महाराज कुंवरसेन की नदी पार कराकर जान बचायी। उनकी इस बहादुरी की कुंवरसिंह भी प्रशंसा करते हैं । मगर कुंवरसिंह को घायल देखकर मल्लाहों के सरदार द्वारा उन्हें गांव में ही टिकने व वैद्य के लिए आदमी दौड़ाने के प्रस्ताव पर कुंवरसिंह उन्हें सामूहिक रूप से कहते हैं ''नाथू सरदार, तुम लोग दिलेर हो, लेकिन अकल मोटी है ।'' कुंवरसिंह के प्रति प्रेम व चिन्ता के कारण ही सरदार ने उन्हें रोकने और वैद्य को बुलाने का प्रस्ताव रखा । जबकि इस प्रस्ताव के जवाब में कुंवरसिंह ने सभी मल्लाहों को मोटी अकल के विशेषण से नवाजा । इसमें उन मल्लाहों का स्नेह और स्वामिभक्ति छुप जाती है और उनका प्रस्ताव बेवकूफी के रूप में उभरकर सामने आता है।

यह पाठ कुल चौदह पृष्ठों का है । अनुसूचित जाति के मल्लाह पात्रों की भागीदारी कुल सात पृष्ठों की है । पाठ में लगभग आधी भागीदारी वाले पात्रों से संबंधित केवल दो प्रश्न हैं । पहले प्रश्न में ही चार विकल्प दिए गए हैं। इसमें सही विकल्प के आगे सही का निशान लगाना है ।

इन चारों विकल्पों की शुरूआत ही होती है 'उनको डर था कि' वाक्यांश से । इस वाक्यांश से यही छवि उभरती है कि उन्होंने नावें डर से डुबोई थी । किसी राष्ट्रभक्ति, दूर की सोच व किसी उद्देश्य के तहत नहीं छिपाई थीं । इस प्रश्न में, यह गुंजाइश नहीं है कि छात्र मल्लाहों के 'डर' के कारणों तक पहुंच सकें । जबकि उन्होंने नावें इसलिए डुबोई थीं ताकि कुंवरसिंह एवं उनकी सेना को नदी पार करवाने के लिए उन नावों को पानी में छिपाकर फिरंगियों द्वारा नष्ट करने से बचाया जा सके । दूसरा प्रश्न उस प्रसंग पर आधारित है जिसमें इनाम के रूप में मिलने वाले पच्चीस हजार रूपये के लालच में गाजीपुर का एक मल्लाह फिरंगियों को कुंवरसिंह से संबंधित सूचनाएं देता है। ध्यातव्य है कि इस प्रसंग का पाठ में बस नाम मात्र का जिक्र है । इस नाम मात्र के जिक्र पर प्रश्न किया गया परन्तु इन मल्लाहों की वीरता, देशभक्ति, ईमानदारी और निष्कपट चरित्र को उभारने वाला एक भी प्रश्न इस पाठ में शामिल नहीं किया गया है। पाठ में इनको साहसी, देशभक्त, अपने प्राणों की परवाह नहीं करने वाला तो जरूर दिखाया गया परन्तु उनकी इस छवि को प्रश्नों द्वारा उभारने की जरूरत नहीं महसूस की गई ।

बिहार राज्य की कक्षा आठ की हिन्दी की पाठ्यपुस्तक में

फणीश्वर नाथ रेणु की एक अत्यंत संवेदनशील कहानी है - 'ठेस'। इस कहानी में रेणु ने एक हुनरमन्द, लगनशील, स्वाभिमानी और मानवीय संवेदना से लबरेज नीची समझी जाने वाली जाति के एक कलाकार की कृषक मजदूर के रूप में काम करने की विवशता एवं उसकी विडम्बना को सशक्त तरीके से उभारा है। अपनी प्रकृति के विरुद्ध काम करने की हालत में यह कारीगर, कृषक मजदूर के रूप में मेहनती साबित नहीं हो पाता और उसके बारे में यह धारणा फैल जाती है कि वह कामचोर है। इसके साथ ही रेणु ने इस कहानी के माध्यम से विषमता आधारित जाति विभाजित समाज की उस विडम्बना को उभारा है जिसमें एक नीच जाति के स्वाभिमानी व्यक्ति को अपने अपमान का विरोध करने पर बदतमीज, मुंहफट, मुंहचोर, चटोर इत्यादि करार कर उसे समाज की नजर में गिराने की कार्यवाही की जाती है । पर पाठ के अंत में दिए गए पांच प्रश्नों में से तीन प्रश्न इन विडम्बनाओं को पकडने की संभावना पैदा करने की जगह पाठ की मूल आत्मा के खिलाफ उन लोगों के साथ खडे हो जाते हैं जो उसे बदतमीज, चटोर इत्यादि विशेषणों से नवाजते हैं । कोई भी प्रश्न उन स्थितियों को समझने की ओर नहीं बढ़ाता जिसमें फंसकर एक कारीगर कृषक मजूदर के रूप में काम करने और ऐसी स्थिति में कामचोर, लेटलतीफ कहलाए जाने के लिए अभिशप्त हो जाता है ।



अब हम इन पाठ्यपुस्तकों में दिए गए अनु. जनजाति से संबंधित चित्रों के विश्लेषण पर चलते हैं । इन पाठ्यपुस्तकों में अनु. जनजाति से संबंधित कुल 5 चित्र हैं । इन पांच चित्रों में से दो चित्र 'भोटिया' जाति की महिलाओं के हैं , एक चित्र शिकार करते पुरुषों का है, एक चित्र मिश्रित है जिसमें महिलाओं और पुरुषों को एक साथ दिखाया गया है तथा एक अन्य चित्र है जिसमें आदिवासियों की एक गोलाकार कुटिया दिखाई गई है ।

सर्वप्रथम हम बिहार राज्य, कक्षा - 6 की पुस्तक 'किशोर भारती' के 'घुमन्तू भोटिया' नामक पाठ में अनु. जनजाति के दिए गए दो चित्रों को लेते हें । ये दोनों चित्र घुमन्तू भोटिया जाति की महिलाओं के हैं । पहले चित्र में एक महिला पांव फैला कर कुछ कूट रही है । इस चित्र में महिला को घरेलू काम करते दिखाया गया है । यह चित्र पाठ में दिए गए प्रसंगों से कोई खास संगति नहीं बैठा पाता । महिला पात्र को इस तरह घर के कार्यों में लगा दिखाना कोई अलग बात तो नहीं है लेकिन पाठ में इस तरह का कोई खास प्रसंग न होने पर भी इस चित्र का दिया जाना बेवजह लगता है। यदि यह चित्र न भी दिया जाता तो भी महिलाओं की ये छवि तो समाज में जन्म लेते ही बच्चों की नजरों में बनने लगती है जिसमें वह मां-बहन को घर में काम करते देखता है । संभवत: चित्र के साथ बच्चा जुडाव तो महसूस करेगा, उसे यह चित्र अन्जान नहीं लगेगा । परन्तु इस तरह के चित्र महिला के प्रति खास दृष्टिकोण (घरेलू कार्य संबंधी) के मद्देनजर दिए जाते हैं जिनमें महिलाओं को अनउत्पादक समझे जाने वाले कार्य ही करते दिखाया जाता है ।

दूसरे चित्र में दो महिलाओं को घाघरा, लम्बी चोली, सर पर चुनरी के साथ भारी-भारी आभूषण पहने बैठे दिखाया है । ये दोनों चित्र ही महिलाओं की परम्परागत छवि दिखाते हैं जिसके अनुसार महिलाओं का कार्य या तो घर का काम करना है, या फिर साज-सिंगार करना माना जाता रहा है । आज के युग में जहां एक तरफ महिला हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही है वहां इन अनु. जनजाति की महिलाओं की इस तरह की तस्वीर प्रस्तुत करना अप्रत्यक्ष रूप से पाठ्यपुस्तक निर्माता के लिंग-भेदी पूर्वाग्रह को दर्शाता है । जबकि आदिवासी महिलाएं अपने क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों और वातावरण के कारण काफी मेहनतकश होती हैं । वे घर के साथ साथ बाहर के कार्य, खेती आदि भी करती हैं। आरक्षित पदों पर अनु. जनजाति की महिलाएं हर क्षेत्रों में आगे आ रही है। पंचायती व्यवस्था में भी अनु. जनजाति की महिला सरपंच बन रही हैं। इन सबके बावजूद पाठ्यपुस्तक का उपरोक्त चित्र आदिवासी महिलाओं को परम्परागत छवि तक सीमित रखता है । निश्चित रूप से ऐसे चित्र आदिवासी समाज की महिलाओं की सच्ची, संपूर्ण तथा यथार्थपूर्ण तस्वीर पेश नहीं करते ।

राजस्थान की पुस्तक 'हिन्दी' कक्षा 7 के नागालैण्ड नामक पाठ में एक चित्र दिया गया है। इस चित्र में दो नागा पुरुषों को और दो नागा महिलाओं को रास्ते में आते-जाते दिखाया गया है । ये चित्र एकदम पारम्परिक चित्र हैं । इस चित्र की पाठ के साथ संगति भी बैठती है कि ये नागा अपनी पारम्परिक वेष भूषा में हैं । जैसा

कि पाठ में बताया गया है इनके मकान भी वैसे ही लकडी के बने हुए है। कोई - कोई मकान बल्लियों के ऊपर बनाया हुआ है जो इसका प्रतीक है वह पहाडी क्षेत्र है, समतल नहीं है । इस चित्र में किसी छवि को तो नहीं उभारा परन्तु पाठ में दिए एक अंश से इस चित्र की नकारात्मक छवि ही उभरती है - इस अंश में ''शिक्षित नागा लोग आधुनिक वेश भूषा में रहते हैं, अशिक्षित नागा पारम्परिक वस्त्र धारण करते हैं '' ऐसा कहा गया । इस अंश को पढ़ने के बाद चित्र में दिखाए नागा अशिक्षत ही माने जायेंगे क्योंकिं वे पारम्परिक वेष-भूषा में हैं । ऐसे में इस चित्र से जो छवि उभरती है वह नकारात्मक ही है ।

इस पाठ में नागाओं की सकारात्मक छवि उभारने वाले प्रसंग भी हैं जैसे -

- शिक्षा के क्षेत्र में इनके द्वारा किये गये प्रयास ।
- माचुंग लोगों द्वारा स्वयं धन इकट्ठा करके कॉलेज खोलना।
- रंगमा और चखसांग जाति के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा हाई स्कूल खोलना ।
- शिकार के समय ईमानदारी के माध्यम से उज्जवल चरित्र दिखाना ।
- बाँस की सुन्दर-सुन्दर एवं लोहे की उपयोगी वस्तुएं बनाना जैसे - कुल्हाडे, भाले, छोटी बन्दूकें आदि ।

जहां इन नागाओं को सिर्फ आते-जाते दिखाया है । वहां इनको उपरोक्त प्रसंगों से संबंधित कार्य करते दिखाया जाना अधिक प्रासंगिक होता ।

हरियाणा राज्य की 'हिन्दी' कक्षा - 8 की पुस्तक में 'भारत के द्वीप' नामक पाठ में एक अत्यन्त लघु (छोटा) चित्र दिया गया है जिसमें समुद्र के किनारे दो-तीन आदिवासियों (पुरूषों) ने शरीर के निचले हिस्से में एक लंगोट की तरह का एक कपडा पहन रखा है, इसके अलावा नंगे बदन हाथ में तीर-कमान लिए मछली और कछुओं का शिकार कर रहे हैं । उसके नीचे 'आदिवासियों का चित्र' शीर्षक दिया गया है जबकि समुद्र किनारे इस तरह से तीर-कमान से मछली और कछुओं के शिकार की प्रथा उंगी जाति की बताई गई है और चित्र में इसे आदिवासियों का चित्र कहा गया है। इससे यही छवि उभरती है कि यह कोई विशेष जाति की प्रथा नहीं बल्कि आदिवासी ऐसे ही शिकार करते हैं । यदि इसी चित्र को जाति विशेष का चित्र कहा गया होता तो ज्यादा सटीक होता । यह चित्र एक परम्परागत चित्र है और यहां एक जाति के आधार पर आदिवासियों का सामान्यीकरण किया गया है । आदिवासियों के एक जाति के शिकार करने के तौर-तरीके को सभी आदिवासी जातियों के लिए सामान्यीकरण किया जाना बताता है कि इन जातियों को लेकर पाठ्यपुस्तक निर्माताओं के मानस में सभी को एक डण्डे से हांक देने की बात छिपी हुई है ।

राजस्थान की कक्षा 8 की 'हिन्दी' में एक पाठ 'भारतीय द्वीप' में भी एक चित्र है । यह एक परम्परागत घर का चित्र है । इस चित्र में बल्लियों पर गोलाकार झोंपड़ी बनी हुई है । हालांकि इस तरह के घर के संबंध में पाठ में कोई प्रसंग नहीं दिया गया है। यह चित्र इस रूप में गैर प्रासंगिक है कि पाठ में बिना किसी प्रसंग के चित्र को दिया गया है। पाठ में जिन विषयों से संबंधित प्रसंग हैं उनके विषय में चित्र देना ज्यादा प्रासंगिक होता । इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो संख्यात्मक रूप से और न ही गुणात्मक रूप से पाठ में शामिल चित्र अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति का प्रतिनिधित्व कर पाते हैं ।

बिहार, हरियाणा, राजस्थान और दिल्ली इन चार राज्यों की कक्षा 6 से 8 तक में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी के पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन से पता चलता है कि पाठ्यपुस्तकों में जहां कहीं भी आदिवासियों की चर्चा आई है उनमें बहुतरी जगहों पर आदिवासियों का परिचय बहुत ही नकारात्मक छवि से करवाया गया है। मसलन बिहार की कक्षा सात की पुस्तक एक जगह कहती है, ''कुछ यूरोपीय इतिहासकारों के अनुसार यहां (मेघालय) आदिवासियों में सिर के शिकार की प्रथा थी ।..... नागाओं में जिसके पास जितनी खोपड़ियां होती हैं वह उतना ही धनवान माना जाता है ।'' हरियाणा राज्य की कक्षा आठ की पुस्तक में लिखा है ''इस जाति (जरबाज) के लोग नरभक्षी माने जाते हैं । '' राजस्थान की कक्षा सात की पुस्तक एक जगह कहती है कि ''बहुत से नागा भूत-प्रेत में विश्वास रखते हैं, बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि ये उनकी पूजा बहुत श्रद्धा के साथ करते हैं ।'' दुर्भाग्य है कि इन आदिवासियों के लिए ऐसे मत वाक्य को लिखते-बताते वक्त इनके आगे पीछे कहीं भी ऐतिहासिक और मानव वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया गया है। इन पाठ्यपुस्तकों में आदिवासियों का परिचय ही यहां से शुरू होता है कि वे क्या नही जानते, बजाए इसके कि वे क्या-क्या जानते हैं। इनका परिचय करवाते वक्त अक्सर यह दिखाया गया है कि आधुनिकता के दौर में ये कहां हैं, मगर क्यों हैं, इसमें दोष किसका है, कारण क्या है यह प्रश्न उठाया तक नहीं जाता। बिहार राज्य की कक्षा सात की पुतक में भारतीयता की तस्वीर खींचने वाले एक पाठ में आदिवासी महिलाओं को दिखलाया गया है। इनकी पहचान पुख्ता करवाने के क्रम में इन आदिवासी महिलाओं के साथ एक विशेषण जोडा गया है, ''जिन्होंने कभी रेल नहीं देखी'' । अध्ययन के दौरान यह साफ पाया गया कि आदिवासी समाज की जाति विशेष, लिंग विशेष से परिचय करवाने का यह

ढंग जिसमें 'क्या नहीं जानते' से शुरुआत किया जाता है, शेष समाज से परिचय करवाते वक्त यह ढंग नहीं अपनाया जाता। मसलन, जिन्होंने कभी नदी पहाड झरने नहीं देखे, प्रकृति के सानिध्य से वंचित, वन्य जीव- जन्तु व औषधियों से बिल्कुल अनजान इत्यादि। जबकि आदिवासी समाज के साथ परिचय करवाते वक्त 'ये क्या नहीं जानते' के विशेषणों से इन्हें लाद दिया जाता है मसलन ''यनादि आदिवासी आज भी खेती करना नहीं जानते । अभी हाल तक ये कन्दमूल का संग्रह और शिकार करके जीवन-निर्वाह करते हैं । अभी कुछ साल पहले तक ये अलग अलग रहकर पाषाण युग का जीवन जी रहे थे। बाह्य सभ्यता से प्राय: अनभिज्ञ ।'' ''आदिवासी गांव, जहां अब भी तीर कमान से शिकार कर पेट भरते हैं ।'' इत्यादि ।

अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के अंशों, प्रसंगों तथा पाठों में यह कहीं भी उभर कर नहीं आया है कि किसी भी तरह के ज्ञान की जन्मस्थली इन वंचितों के समाज में रही है । हमेशा यही संदेश मिलता रहा है कि ज्ञान फूटने का स्रोत शेष समाज में रहा है । अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के प्रसंगों में हमेशा ज्ञान का प्रवाह शेष समाज की ओर से वंचित समाज की ओर दिखलाया है।

अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के अंशों, प्रसंगों तथा पाठों में यह कहीं भी उभर कर नहीं आया है कि किसी भी तरह के ज्ञान की जन्मस्थली इन वंचितों के समाज में रही है । हमेशा यही संदेश मिलता रहा है कि ज्ञान फूटने का स्रोत शेष समाज में रहा है । अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के प्रसंगों में हमेशा ज्ञान का प्रवाह शेष समाज की ओर से वंचित समाज की ओर दिखलाया है । कभी इस धारा का प्रवाह वंचित समाज की ओर से शेष समाज की ओर नहीं दिखलाया गया । इन प्रसंगों में वंचितों का समाज कभी शेष समाज को कुछ सिखाता नजर नहीं आता ।

चार राज्यों की 16 पाठ्यपुस्तकों में अध्ययन के दौरान पाया गया कि अनुसूचित जनजाति की किसी भी महिला पात्र को पात्र विशेष, व्यक्तित्व विशेष के रूप में न दिखाकर आदिवासी महिला के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यही बात अनुसूचित जनजाति के पुरुष पात्रों पर भी लागू होती है । जहां कहीं भी इन्हें दिखाया गया है वहां इन्हें एक समूह के रूप में, एक जाति के रूप में ही दिखाया है। अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि अनुसूचित जनजाति से संबंधित अंश एक जाति और समूह के रूप में दिए गए हैं । अनुसूचित जनजाति की पृष्ठभूमि का कोई भी गौण या प्रमुख पात्र नहीं है जो अपनी जाति से अतिरिक्त अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखने वाला हो।

अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि आदिवासी महिलाओं का जहां कहीं भी जिक्र आया है वहां इन्हें किसी उत्पादक कार्य को करते हुए नहीं दिखलाया गया । कहीं इन्हें रंग-बिरंगे कपड़े पहन नाचते-झूमते बतलाया गया है तो कहीं इनके शृंगार के उपादानों की चर्चा की गई है । गारो और खासी जनजाति की महिलाओं के संदर्भ में मातृसत्तात्मक समाज के अन्तर्गत महिलाओं की अवस्था की चर्चा है । यहां भी इन्हें कोई उत्पादक कार्य करते नहीं दिखलाया है ।

आदिवासियों से संबंधित जितने भी प्रसंग है जिनमें इनके रहन-सहन, रीति-रिवाज, पहनावे-ओढावे, खान-पान, कद-काठी, रूप-रंग तथा उनके द्वारा प्रदर्शित व्यवहार इत्यादि को दिखलाया गया है वह बगैर किसी भौगोलिक स्थापना, ऐतिहासिकता तथा मानव विज्ञान की अवधारणाओं के हैं । इसके कारण 'ये जैसे हैं वैसे क्यों है, इसकी समझ पाठयपुस्तक में नहीं बन पाती। ऐसे में इनका भिन्न पहनावा-ओढावा, रूप-रंग, रहन-सहन, कद-काठी, खान-पान, रीति-रिवाज तथा इनके व्यवहार करने के तरीके समझ में न आने वाली चीज बन कर रह जाते हैं । वैज्ञानिक अवधारणाओं से कटी यह भिन्नता शेष समाज के स्थापित मानदण्डों से मेल न खाने की वजह से अक्सर यह संभावना बनाती है कि शेष समाज इनके संबंध में नकारात्मक छवि बना सकता है । वर्चस्व प्राप्त शेष समाज के यह मानदण्ड कई बार ऐसी स्थिति का भी निर्माण करते हैं जिसमें आदिवासी पृष्ठभूमि का छात्र अपने ही समाज के संबंध में पढ़ते हुए आत्महीनता से भरने लगता है।

अनुसूचित जनजाति से संबंधित प्रसंगों के अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि कई जगहों पर गारो तथा खासी जनजाति के सामाजिक गठन के बारे में बतलाया गया है । संबंधित विवरण से पता चलता है कि मातृसत्तात्मक समाज होने की वजह से इन समाजों में नारियों की स्थिति बेहतर है । सम्पत्ति तथा जीवन साथी चुनने जैसे महत्वपूर्ण निर्णय लेने में लड़कियां अधिकार संपन्न तथा स्वतंत्र हैं । यह निश्चित रूप से इन समाजों की विशिष्टता है । परन्तु इन विशिष्टताओं को वृहत्तर सामाजिक सन्दर्भों से जोडकर नहीं देखा गया है । प्रस्तुत प्रसंग में मातृ-सत्तात्मक समाज में कार्य करने के तरीके, श्रम विभाजन, अर्थ व्यवस्था में महिलाओं का योगदान क्या है और आखिरकार वो कौन से कारण हैं जिनकी वजह से यह समाज मातृ-सत्तात्मक है, आदि, किसी भी बिन्दु को उजागर नहीं किया गया है । आज विश्व भर में पितृसत्तात्मक समाज (जो

कि महिलाओं के शोषण पर आधारित समाज का लक्षण है।) के खिलाफ महिलावादी आन्दोलनों के जरिए अनेक सवाल खडे किए जा रहे हैं तथा इसके विकल्प की तलाश की जा रही है । ऐसे में आदिवासियों के बीच मातृसत्तात्मक समाज का होना उपरोक्त विकल्पों की तलाश में कुछ रोशनी अवश्य डालता। परन्तु सामाजिक सन्दर्भों से कटे हुए तथा इस मातृसत्तात्मक समाज की बुनियादी संरचना के संबंध में चुप्पी साधे हुए उपरोक्त प्रसंग इस रूप में कोई मदद पहुंचाने वाला नहीं हैं। एक अन्य प्रसंग में यह बतलाया गया है कि उंगी जनजाति में स्त्रियों को बहुत पवित्र माना जाता है । यहां उंगी जातियों में स्त्रियों को पवित्र माने जाने की बात तो कही गई है परन्तु यह बताया ही नहीं गया कि इस पवित्रता से उनका तात्पर्य क्या है । क्या वृहत्तर समाज में स्त्रियों पर आज जिस तरह के अत्याचार हो रहे हैं मसलन यौन शोषण, दोयम दर्जे का सामाजिक जीवन, समाज में निर्णय लेने की प्रक्रिया से इन्हें अलग रखा जाना, लिंग भेदी श्रम विभाजन तथा इनके द्वारा किए जाने वाले अधिकांश कार्यों का आर्थिक्र मूल्यांकन से अलग रखा जाना इत्यादि । इन सबकी दृष्टि से इस पवित्रता के क्या मायने हैं ? इन सबके मद्देनजर यहां की पवित्र समझी जानेवाली स्त्रियों की स्थिति क्या है ? इन सब सवालों के मध्य इस पवित्रता को रखकर देखने की कोशिश नहीं की गई है जिसके बगैर ऐसी पवित्रता कोई समझ नहीं बना पाती। और पवित्रता का इस किस्म का जिक्र सिर्फ उस सूचना के अलावा कुछ अन्य मायने नहीं रखता।

चार राज्यों की अध्ययन की गई पुस्तकों में केवल बिहार राज्य कक्षा 7 की 'गद्य-गौरव' में 'आदिवासी भारत' नामक पाठ में ही आदिवासियों की समस्याओं को विस्तृत रूप से उभारा गया है -भौगोलिक परिवेश की समस्याएं, आधुनिक सभ्यता के संपर्क से उत्पन्न समस्याएं ।

उपरोक्त अंशों में आदिवासियों के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण झलकता है, मसलन, ''वास्तव में जनजातीय जीवन पद्धति से अपरिचित लोग उन्हें एक अजीबो गरीब संस्कृति माडल भर समझते हुए उन्हें संगीत और नृत्य तक ही सीमित रखते हैं । उनकी वास्तविक समस्याओं तक किसी का ध्यान नहीं जाता,'' जंगलों और पहाडों के कठिन जीवन को इन आदिवासियों को जीना पड़ता है । यहां यह भी दिखाया है कि तथाकथित सभ्य समाज के संपर्क में आने पर इनका और इनके रिवाजों का कितना शोषण होता है। इनके यहां की यौन-स्वछन्दता तथा 'घोटुल' जैसी प्रथा का यह सभ्य समाज किस तरह से शोषण करता है ? किस प्रकार से कुछ संस्थाएं धर्म के परिवर्तन करवाकर उनके सांस्कृतिक मूल्यों को आघात पहुंचाती हैं ? तथाकथित सभ्य समाज के साहूकारों ने इन्हें रुपया उधार देकर ऐसे कर्ज में फंसाया कि इनका अजन्मा बच्चा भी उसी कर्ज के भार में दबा होता है। स्थानान्तरित कृषि, जिसे सरकार अपराध मानती है, उसे करने में भी इन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पडता होगा । नगरों के संपर्क में आने पर इन आदिवासियों के औद्योगिक श्रमिक बनने की समस्या को एक जटिल समस्या के रूप में उभारा गया है ।

इस पूरे अध्ययन में आदिवासियों के प्रति केवल यहीं संवेदनशीलता दिखाई देती है । ये संवेदनशीलता न कोई हमदर्दी है न ही आकाशीय है बल्कि उनके जीवन से जुड़ी वास्तविक कठिनाइयों से संबंधित है । इस पाठ में समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण दुबे द्वारा दिया गया दृष्टिकोण भी शामिल है जिसके आधार पर इन समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है । इस पाठ में यह पूर्वाग्रह भी नहीं मिलता कि ये आदिवासी अपनी बदहाल स्थिति का कारण स्वयं हैं । पुस्तक में इस पाठ का होना अनुसूचित जनजाति के प्रति दृष्टिकोण में सकारात्मक पहल हो सकता है । यह दृष्टिकोण केवल लेखक का है । जबकि सम्पूर्ण पाठ्यपुस्तक में यही दृष्टिकोण अपनाना चाहिए था। यह भावना या दृष्टिकोण एक दर्शन की तरह सम्पूर्ण पाठ्यपुस्तक, पाठ्यक्रम में नहीं झलकता। ऐसे में ये पाठ पिछले तमाम पाठों द्वारा परोसी गई अनुसूचित जनजाति के प्रति नकारात्मक छवि को तोड़ने में कितना सफल हो पाएगा यह संदेह का विषय है । यदि बहुत उदार मन से सोचा जाए तो केवल बिहार राज्य में इस पाठ का प्रभाव पड़ सकता है। अन्य राज्यों में तो ऐसा कोई पाठ नहीं है ।

शिक्षा जगत में आज समतामूलक तथा मानवीय शिक्षा को मूल्य के रूप में अपनाने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। विभिन्न शिक्षा समितियों की रपटों ने भी हमारा ध्यान इस तरफ खींचने की कोशिश की है । अत: वर्तमान पाठ्यपुस्तकों को इस कसौटी पर खरा उतरना ही होगा । इसके लिए जरूरत है कि हमारी पाठ्यपुस्तकें सिर्फ आनुपातिक ढंग से ही दलित, उपेक्षित समुदायों का प्रतिनिधित्व न करें बल्कि अपने मूल चरित्र में भी बदलाव लाएं। आज का पिछड़ा समाज जैसा है उसके वैसे होने में जो ऐतिहासिक व नृतत्वशास्त्रीय वजहे हैं उनको सही परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने की संभावनाओं से युक्त हों । कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके उलट होने की स्थिति में पाठ्यपुस्तकें समाज में समानता के मूल्य को बल पहुचांने वाली न होकर उन समूहों पर आक्रमण का माध्यम बन सकती हैं । जब पाठ्यपुस्तकें वंचितों का सभी स्तरों पर सही प्रतिनिधित्व नहीं कर रही होती हैं तो वह समाज का विकृत रूप रख रही होती हैं । सामाजिक यथार्थ का गलत प्रतिनिधित्व कर रही होती हैं। ऐसी पाठ्यपुस्तकें न तो वंचित बच्चों के लिए प्रासंगिक हो सकती हैं और ना ही शेष समाज के बच्चों के लिए ही ।◆